विचारों में नीतिसम्बन्धी विचार शुरू से ही शामिल हैं, इसलिए ऐसा कहना बिलकुल समीचीन है कि भारतीय नीतिशास्त्र उतना ही पुराना है जितनी पुरानी वैदिक संस्कृति है। प्रस्तुत लेखन में हम वैदिक संस्कृति के केवल नैतिक पक्ष का विवेचन करेंगे। और, जैसा हमने संकेत किया है, हमारा विवेचन संक्षिप्त ही होगा। हम केवल कुछ चुनिंदे एवं महत्त्वपूर्ण विषयों के सम्बन्ध में ही विचार करेंगे।

23.2 वैदिक कर्मकांड

वैदिक आचारशास्त्र में हम *ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, रामायण, महाभारत, गीता,* के साथ-साथ *स्मृतियों* तथा *पुराणों* के नैतिक विचारों को भी शामिल करते हैं। स्पष्ट ही इनका काल एक बहुत विस्तृत काल है। इस काल के सम्बन्ध में हम ऊपर संक्षिप्त विचार कर चुके हैं। इस वैदिक आचारनीति का अनुसरण अनेक रूपों में आज भी हो रहा है। अब यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि यह वैदिक आचारनीतिपरक चेतना वैदिक ऋषियों में किस प्रकार उभरी। उल्लेखनीय है कि वैदिक ऋषियों ने अपनी विलक्षण अनुभूतियों में एक विश्वव्यापी सामंजस्यपरक चेतना का साक्षात्कार किया। उन्होंने इस विश्वव्यापी सामंजस्य के महत्त्व को बखूबी समझा। निश्चय ही किसी रचनात्मक कार्य के लिए अंततः सामंजस्य या व्यवस्था की ही नितांत आवश्यकता होती है। इस सामंजस्य या व्यवस्था को उन्होंने 'ऋत' का नाम दिया। निश्चय ही वैदिक मनीषियों की नैतिक चेतना किसी कल्पना की उड़ान नहीं थी। वह तो इसी विश्वव्यापी ऋत से सम्बद्ध थी। यह सही है कि नैतिक चेतना व्यक्तिपरक होती है। पर ऐसा वह केवल आधार के लिए होती है। विषय के सम्बन्ध में वह अंततः विश्वव्यापी ही होती है। अतः उसका ऋत से सम्बन्ध होना स्पष्ट ही है। इस ऋत को हम रीति या नियम भी कह सकते हैं। ऋग्वेद कहता है– "ऋतं च सत्यं च आभीद्धात् तपसः अजायत"। अर्थात् गहन तपस्या से ऋत और सत्य उत्पन्न हुए और उसके बाद ही सारा विश्व उत्पन्न हुआ। इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि सामंजस्य अर्थात् व्यवस्था के मूल में सत्य अर्थात् वास्तविकता तथा ऋत अर्थात् नियम का होना नितांत आवश्यक है और नैतिकता का संभावनापरक आधार भी तो यही है कि मनुष्य का सामान्य व्यक्तित्व वास्तविकता एवं नियम पर ही आधारित होता है। अब हम यहाँ इस ऋत तथा कुछ अन्य नैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे।

23.2.1 ऋत

जैसा हमने ऊपर कहा है, 'ऋत' संपूर्ण विश्व में व्याप्त एक व्यवस्था का नाम है। इसी ऋत के कारण विश्व की खगोलीय, भौगोलिक, भूगर्भीय, मानसिक, आदि सभी प्रकार की घटनाएँ नियमबद्ध तरीके से घटित होती रहती हैं। इस 'ऋत' शब्द से ही हिन्दी भाषा का 'रीति' शब्द उद्भूत हुआ है। किसी नियमानुकूल घटना को रीतिपरक ही माना जाता है। ऋत का उलटा 'अनृत' कहलाता है और वह अनैतिक होता है। वैदिक ऋषियों ने, जो मूलतः द्रष्टा थे, ऋत को एक मूल्य के रूप में भी देखा था और इसी कारण उनकी यह चेतना नैतिक रूप ले सकी थी। फिर तो ऋत एक आदर्श भी बन गया।

वेद के सभी देवता ऋत से उत्पन्न (ऋतजात) तथा उसी से सम्बन्धित होनेवाले (ऋतवृध) माने जाते थे। वरुण जो पूरे आकाश को आच्छादित करते हैं ऋत के संरक्षक या गोपा (ऋतस्य गोपा) माने गये। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि वरुण ही नैतिकता

के देवता थे। और फिर इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि वे ही न्याय एवं दण्डविधान के भी देवता थे। वरुण 'ऋतवत' भी थे, क्योंकि वे नियमानुसार व्रत का भी पालन करते थे। व्रत का पालन नहीं करना पाप की श्रेणी में आता था। वेद में अनेक ऐसी स्तुतियाँ है जिनमें लोग वरुण को संबोधित करते हुए अपने पापों के लिए क्षमायाचना करते हैं। अनृत या असत्यभाषण, चोरी, हिंसा, आदि कर्म पापपूर्ण यानी अनैतिक माने गये हैं। वहीं सत्यभाषण, संतोष, ब्रह्मचर्यपालन, आदि पुण्यमय यानी नैतिक माने गये हैं। इस पाप और पुण्य के भेद के पीछे तर्क यही है कि जो व्यवस्था या ऋत के विरुद्ध है वह पाप है और जो उसके अनुकूल है वह पुण्य है। इसीलिए वैदिक आर्य इन्द्र से प्रार्थना करते हैं कि "हे इन्द्र! हमें ऋत के पथ पर ले जाओ जो अनैतिकताओं से परे एक उचित पथ है"।[14]

अब यहाँ यह उल्लेखनीय है कि नैतिकता में जो भूमिका ऋत की है वही भूमिका धर्म की भी है। पर धर्म की अवधारणा बाद में प्रकट हुई। और फिर ऐसा हुआ कि ऋत की भूमिका क्रमशः गौण होती गई और धर्म की भूमिका क्रमशः प्रधान होती गई। आज यदि धर्म की अवधारणा एक जोज्वल्यमान सूर्य के समान है, तो ऋत की अवधारणा मानो एक टिमटिमाते तारे के समान है। अब हम यहाँ इस धर्म की अवधारणा के सम्बन्ध में कुछ विस्तार से चर्चा करेंगे।

23.2.2 धर्म

'धर्म' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में भी अनेक बार हुआ है। अधिकतर स्थानों में इसका प्रयोग यज्ञादि क्रियाओं के सम्बन्ध में हुआ है। ऋग्वेद की ऋचा 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' में ऐसा ही प्रयोग हुआ है। पर अनेक स्थानों में इसका प्रयोग किसी क्रिया के लिए नहीं, वरन् क्रिया सम्बन्धी नियम के लिए हुआ है। अथर्ववेद के 9-9-17 में 'धर्म' का अर्थ न तो कोई क्रिया है, न ही कोई नियम, बल्कि क्रिया से उत्पन्न गुण होता है। इस तरह यह देखा जा सकता है कि वेदों में 'धर्म' के अनेक अर्थ होते हैं। पर निश्चय ही वेदों में इसका क्रियापरक अर्थ ही प्रधान होता है। और, जैसा हम जानते हैं, वेदों के अनुसार यज्ञादि क्रियाओं का क्रियान्वयन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तो होता ही है।

अब प्रश्न उठता है कि धर्म का आधार क्या है, अर्थात् उसका स्रोत क्या है। *गौतम धर्मसूत्र* (1-1-2) कहता है: "वेदो धर्ममूलम्। तद्विदां च स्मृतिशीले।", अर्थात् वेद धर्म का मूल है। उसको जानने वालों की स्मृति और उनके शील भी। *मनुस्मृति* (2.6) कहती है 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम् स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्च साधूनाम् आत्मनः तुष्टिरेव च।', अर्थात् सारा वेद, उसको जानने वालों की स्मृति और उनके शील व्यवहार, साधुओं के आचार, तथा आत्मतुष्टि धर्म के मूल हैं। *याज्ञवल्क्य स्मृति* (1.7) कहती है: 'श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्यच प्रियमात्मनः। सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतं।।" अर्थात् श्रुति, स्मृति, सदाचार, आत्मप्रीति, सम्यक् संकल्पजनित काम, ये सब धर्म के मूल माने जाते हैं। इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि धर्म या धार्मिकता के निरूपण में वेद एवं स्मृति जैसे ग्रंथों की बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इन ग्रंथों में वेद सबसे अधिक प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण है। और इसके बाद के वैसे सभी ग्रंथ जो वैदिक धर्म के लिए महत्त्वपूर्ण माने गये हैं वैदिक परंपरा के अंतर्गत ही आँके जाते हैं। ये ग्रंथ अंततः वेद को ही अंतिम प्रमाण मानते हैं। इनकी संख्या बहुत ही बड़ी है। हम इनके सम्बन्ध यहाँ कुछ विस्तार से चर्चा करेंगे।

चारों वेदों के अंगों के रूप में *मंत्र, ब्राह्मण, आरण्यक* तथा *उपनिषद्* हैं। इनके बाद कल्पसूत्रों का निर्माण हुआ। सूत्र छोटे-छोटे अर्थपूर्ण शब्द-समूहों या पद-समूहों को कहते हैं। कोई भी कल्पसूत्र ऐसे ही समूहों का संकलन होता है। एक कल्पसूत्र में तीन तरह के सूत्र

संकलित होते थे—*श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र*। *कल्पसूत्रों* को हम धर्मशास्त्र कह सकते हैं। इनका निर्माण वेदों के बाद तथा *स्मृतियों* के पहले हुआ है। *श्रौतसूत्रों* में श्रुतियों अर्थात् वैसे के उन यज्ञों एवं अनुष्ठानों के संग्रह एवं वर्णन हैं जो सर्वसाधारण के लिए नहीं होते। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वेद के समय में लेखनकला का उदय नहीं हुआ था। इसलिए वेद श्रवण पर ही कायम रहता था। इसी कारण इसे *'श्रुति'* कहा जाता था। *गृह्यसूत्रों* में गृहस्थों द्वारा किये जाने वाले यज्ञों एवं अन्य प्रकार के अनुष्ठानों के संग्रह और वर्णन हैं। और *धर्मसूत्रों* में सदाचार सम्बन्धी नियमों के संग्रह एवं वर्णन रहते हैं। *कल्पसूत्रों* का निर्माण अनेक सूत्रकारों ने किया है। वे हैं—गौतम, आश्वलायन, बौधायन, आपस्तम्ब, शांखायन, हिरण्यकेशी, वशिष्ठ, हारीत, आदि। सभी *कल्पसूत्रों* के तीनों अंग आज उपलब्ध नहीं हैं। कुल को छोड़ अन्य सबों का तो एक अंग या दो अंग ही उपलब्ध हैं। आश्वलायन एवं शांखायन के *धर्मसूत्र* आज उपलब्ध नहीं हैं। लेकिन आपस्तम्ब तथा हिरण्यकेशी के *कल्पसूत्रों* के तीनों अंग अर्थात् *श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र* तथा *धर्मसूत्र* आज भी उपलब्ध हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि प्राचीन वैदिक काल में वेदों का अध्ययन या अनुशीलन विभिन्न *कल्पसूत्रों* पर आधारित विभिन्न शाखाओं में होता था। पर कालांतर में यह शाखापरंपरा बहुत प्रभावकारी नहीं रही। और सभी शाखाओं के लिए सभी *कल्पसूत्र* प्रायः समान रूप से ही मान्य एवं प्रामाणिक हो गये।

कल्पसूत्रों के बाद *स्मृतियों* की रचनाएँ हुईं। *स्मृतियाँ* प्रायः अनुष्टुप्छन्द में पद्यबद्ध हैं। *स्मृतियों* में सबसे अधिक प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण *मनुस्मृति* है। *स्मृतियों* का निश्चित रूप से काल निरूपित करना बहुत कठिन है। इन *स्मृतियों* का महत्त्व भारतीय नीतिशास्त्र के निरूपण में बहुत अधिक है, क्योंकि इनमें मनुष्यों के प्रायः सभी तरह के कार्यों के लिए निर्देश दिये गये हैं। *स्मृतियों* के निर्देश आज भी हिंदुओं में बहुत अधिक मान्य हैं।

स्मृतियों के साथ-साथ *रामायण* तथा *गीता* सहित *महाभारत* जैसे महाकाव्य भी नीतिशास्त्रीय दृष्टि से बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। *महाभारत* के अंतर्गत *गीता* तो नीतिशास्त्र के सम्बन्ध में मानो एक कालजयी ग्रंथ ही है। फिर अनेकानेक *पुराण* हैं जिनमें भी आचारनीति के विभिन्न प्रकार के विषयों की बहुत अधिक चर्चा हुई है। 18 पुराण मुख्य माने जाते हैं। ये हैं—*ब्रह्म, पद्म, विष्णु, वायु, भागवत, नारदीय, मार्कण्डेय, आग्नेय, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़ एवं ब्रह्माण्ड*। इनके अलावे कुछ आस्तिक दर्शनशास्त्र भी हैं जिनमें आचारनीति के निरूपण के साथ-साथ उसके औचित्य का भी विवेचन किया गया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कुछ नास्तिक दर्शन भी हैं जिनके अंतर्गत आनेवाली आचारनीति वैदिक परम्परा का प्रायः घोर विरोध ही करती है। इनके सम्बन्ध में भी हम आगे कुछ विस्तार से ही चर्चा करेंगे।

इस तरह हम देख सकते हैं कि धर्म के स्रोत के रूप में एक अत्यंत विशाल साहित्य है जिसका उपयोग आज भी हिंदुओं द्वारा अपने आचरण के सम्बन्ध में किया ही जाता है।

23.2.3 ऋण—यह ऋण की अवधारणा क्या है? जैसा हम सभी जानते हैं, प्रत्येक व्यक्ति अपने अस्तित्व तथा कल्याण के प्रति बहुत ही सजग और यत्नशील रहता है। ऐसा रूझान एक प्रकार का आत्मस्नेह या आत्मप्रेम ही है। अब यदि कोई अन्य व्यक्ति किसी व्यक्ति का कुछ भी उपकार करता है, तो उस उपकृत व्यक्ति को उपकार करनेवाले व्यक्ति के प्रति कृतज्ञ होना ही चाहिये; ऐसा इसलिये कि उपकार करनेवाले व्यक्ति ने उपकृत के साथ आत्मस्नेह या आत्मप्रेम के अनुकूल ही कार्य किया है। पर चूँकि यह उपकार अन्य व्यक्ति

द्वारा क्रियान्वित हुआ है, इसलिए यह उपकार उपकृत व्यक्ति के लिये मानो एक प्रकार का ऋण है। इस प्रकार वह उपकृत व्यक्ति ऋणी हो जाता है जिससे उसे उऋण तो होना ही चाहिये। साधारणतः लोग कृतज्ञता ज्ञापन करके ऐसे ही ऋणों से उऋण हो जाया करते हैं। वैदिक संस्कृति में ऋणों से उऋण होने को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। इस संस्कृति में मानव जीवन के ऋण तीन प्रकार के माने गये हैं—पितृऋण, ऋषिऋण, तथा देवऋण। अब हम इन तीनों ऋणों की कुछ विस्तार से व्याख्या एक एक कर करेंगे। इन ऋणों से उऋण होना तो नैतिक कर्तव्य ही होता है।

पितृऋण—पितृऋण वह ऋण है जो मनुष्यों को उनके पितरों से अर्थात् माँ-बाप से एवं उनके भी माँ-बाप से तथा इस क्रम में सभी पूर्वजों से प्राप्त होता है। यह तो स्पष्ट ही है कि मेरा अस्तित्व मेरे माँ-बाप के कारण सम्भव हुआ है और उनका उनके माँ-बाप के कारण। और यह बात्या पूर्व के सभी पितरों के सम्बन्ध में लागू है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने अस्तित्व तथा प्रारम्भिक लालन-पालन के लिए अपने माँ-बाप का ऋणी होता है और मैं इसका कोई अपवाद नहीं हो सकता। अतः मुझे या अन्य किसी व्यक्ति को नैतिक आचारनीति के अनुसार इस ऋण को चुका देना चाहिये। धर्मशास्त्र में ऐसे ऋणों को चुकाने के तरीके भी निर्धारित कर दिये गये हैं। वेद की *तैत्तिरीय संहिता* (6-3-10-5) में कहा गया है—"जायमानो वै ब्राह्मण: त्रिभि: ऋणवान् जायते। ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्य: यज्ञेन देवेभ्य: प्रजया पितृभ्य:'। अर्थात् जन्म लेकर ब्राह्मण तीन प्रकार के ऋणों से युक्त होकर जन्म लेता है। ऋषियों से प्राप्त ऋण ब्रह्मचर्य से, देवताओं से प्राप्त ऋण यज्ञ से तथा पितरों से प्राप्त ऋण पुत्रोत्पत्ति से चुकाया जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पितृऋण को चुकाने के लिए पुत्रोत्पत्ति करना आवश्यक है। पितृऋण चुकाने के लिए कुछ अन्य कर्म भी करना चाहिये जिसे 'श्राद्ध कर्म' कहते हैं। हिंदूधर्म में इस श्राद्ध कर्म का विशेष महत्त्व है और यह कर्म आज भी अनिवार्य माना जाता है। यह कर्म पितरों की शांति के लिए माँ-बाप के मरणोपरान्त किया जाता है और फिर इसे वार्षिक श्राद्ध, पार्वणश्राद्ध, गया-श्राद्ध, आदि के रूप में भी किया जाता है। इन श्राद्धों को करने से भी लोग पितृऋण से उऋण हो जाते हैं। *ब्रह्मपुराण* श्राद्ध को इस प्रकार परिभाषित करता है—"देशे काले च पात्रे च श्रद्धया विधिना च यत्। पितृघनुद्दिश्य विप्रेभ्यो दत्तं श्राद्धमुदाहृतम्।।"[15], अर्थात् (विशिष्ट) स्थान पर (विशिष्ट) समय में (विशिष्ट) व्यक्ति को श्रद्धाविधि से विप्रों को पितरों के उद्देश्य से जो दिया जाता है वह श्राद्ध है।

ऋषिऋण—हम अपने ऋषियों के भी ऋणी होते हैं। यह दो रूपों में होता है। एक रूप तो यह है कि ऋषियों ने हमें वेद जैसा एक अत्यंत विलक्षण ज्ञानभंडार उपलब्ध कराया है। हम यह सूचित कर चुके हैं कि ऋषिगण ही वेदमंत्रों के द्रष्टा थे। ऋषिप्रदत्त यह वेद सभी लोगों के बौद्धिक एवं चारित्रिक विकास एवं उन्नयन के लिए एक अत्यंत उपयोगी साधन है। अतः हम निश्चित रूप से ही ऋषियों के ऋणी हो जाते हैं। हमारे ऋणी होने का दूसरा रूप यह है कि हम अपने बाल्यकाल में ऋषियों के आश्रम में जाकर तथा उन्हें गुरु के रूप में स्वीकार कर उनसे शिक्षा प्राप्त करते हैं। और उनसे शिक्षा प्राप्त करने के बाद ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार शिक्षा पाने के लिए भी हम ऋषियों के ऋणी होते हैं। ऐसे ऋण को ऋषिऋण कहते हैं। प्रश्न उठता है कि इस ऋण को चुकाने का तरीका क्या है। *तैत्तिरीय संहिता* के अनुसार इस ऋण को ब्रह्मचर्य के द्वारा चुकाया जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि सबों को बाल्यकाल में ब्रह्मचर्य का पालन कर तथा गुरु के आश्रम में रहकर शिक्षा ग्रहण करना चाहिये तथा गुरु के द्वारा निर्देशित नियमों के अनुसार ही अपना जीवनयापन करना

चाहिये। यह सही है कि आज शिक्षापद्धति बहुत बदल गयी है और प्राचीन काल की तरह आज गुरु के आश्रम होते भी नहीं हैं। पर शिक्षण तो आज भी होता है और शिक्षकों द्वारा ज्ञान का प्रदान आज भी होता है। और आज तो वैज्ञानिकों द्वारा ज्ञान का नया-नया भंडार सृजित भी होता जा रहा है। अतः आज हम न केवल शिक्षकों के प्रति, बल्कि वैज्ञानिकों के प्रति भी ऋणी होते हैं। ये सभी ऋण मानो ऋषिऋण ही हैं। अतः इस ऋषिऋण को चुकाने की बाध्यता आज भी बरकरार ही है।

देवऋण—देवऋण वह ऋण है जिसमें हम देवताओं के ऋणी होते हैं। जैसा हम जानते हैं, वैदिक संस्कृति प्रारंभ में बहुदेवतावादी थी और वह व्यावहारिक धरातल पर आज भी वैसी ही है। इस संस्कृति के देवता हैं—इन्द्र, वरुण, अग्नि, द्यौस्, उषस्, मित्र, सूर्य, पृथ्वी, दो अश्विनीकुमार, सवितृ, पूषन्, मरुत्, वात, सोम, विष्णु, रुद्र, आदि। ये देवता प्रकृति के किसी-न-किसी विभाग से सम्बद्ध हैं। वैदिक संस्कृति की प्रारंभिक अवस्था में लोग विकास की उस अवस्था में नहीं थे जिसे हम वैज्ञानिक ज्ञान से युक्त विकसित अवस्था कहते हैं। उस प्रारंभिक अवस्था में लोग प्रकृति के विभिन्न व्यापारों को बिलकुल रहस्यमय तथा अलौकिक मानते थे और उन्हें अतिप्राकृतिक दैवी शक्तियों द्वारा परिचालित मानते थे। सायणाचार्य ने, जो ईस्वी सन् 13वीं शताब्दी के वेद एवं *ब्राह्मण* ग्रंथों के भाष्यकार थे, वैदिक देवताओं की प्राकृतिक व्याख्या ही की है। सुरेन्द्र नाथ दासगुप्त भी कहते हैं—"प्रकृति की शक्तियों और उनकी अभिव्यक्तियों ने—जो पृथ्वी में हमारे चतुर्दिक वातावरण तथा उसके परे यानी आकाश के परे स्वर्गलोक में व्याप्त हैं—वैदिक कवियों की भक्तिभावना तथा कल्पना को उत्प्रेरित किया।"[16] राधाकृष्णन् भी कहते हैं—"वैदिक ऋचाओं के सबसे प्राचीन ऋषिगण सरल अचेतन ढंग से प्राकृतिक दृश्यों से आनन्दित हुए। आंतरिक रूप से कविपरक मानसिक प्रवृत्ति रखनेवाले उन लोगों ने प्राकृतिक वस्तुओं को भावना की इतनी गहराई से तथा कल्पना की इतनी तीव्रता के साथ देखा कि वे वस्तुएँ आत्मा से परिपूर्ण हो गईं।"[17] राधाकृष्णन् आगे यह भी कहते हैं—"मनुष्य के मानसिक यंत्र में देवनिर्माण की प्रक्रिया को उतने स्पष्ट रूप से अन्यत्र कहीं नहीं देखा जा सकता जितना स्पष्ट रूप से *ऋग्वेद* में।"[18] वेद का अग्निदेव वही अग्नि है जिसके साथ हमें अपने जीवनयापन में रोज ही सरोकार रखना पड़ता है। यह अग्नि वही-अग्नि है जिसे हमारे पूर्वज दो सूखी लकड़ियों के परस्पर घर्षण से पैदा कर लेते थे। कैगी[19] ने अपनी पुस्तक *ऋग्वेद* में कहा है कि "अग्नि मानो नर्म लकड़ी जैसे घर में छिपी रहती है, पर प्रातःकाल वह घर्षण के कारण हठात् ही चमकदार तेज के साथ प्रादुर्भूत हो जाती है।"[20] यह बिलकुल स्वाभाविक ही था कि वैदिक चिंतकों ने प्राकृतिक दृश्यों एवं व्यापारों की वैज्ञानिक वास्तविकता को नहीं समझने के कारण उन्हें अलौकिक मानकर देवताओं के रूप में स्वीकार किया। और इस तरह एक देवतापरक मिथक का निर्माण हो गया। और बाद में *पुराणों* तथा अन्य धर्मग्रंथों द्वारा इस प्रारंभिक मिथक का पूर्ण रूप से मिथकीकरण हो गया। प्रत्येक प्राकृतिक एवं लौकिक विभाग के लिए एक अतिप्राकृतिक एवं अलौकिक देवता कल्पित कर लिया गया—जैसे, अग्नि के लिए अग्निदेवता, सूर्य के लिए सूर्यदेवता, वर्षा के लिए इन्द्रदेवता, वायु के लिए वायुदेवता, आकाश के लिए वरुणदेवता, आदि।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि हम इन देवताओं के ऋणी कैसे हो जाते हैं। इसका उत्तर पाना तो बिलकुल सहज है। क्या हम बिना अग्नि, बिना सूर्य, बिना वर्षा, बिना वायु, आदि के एक क्षण भी कायम रह सकते हैं?

देवताओं के ऋणी तो हैं ही। और तब हमारा यह कर्तव्य हो ही जाता है कि हम उनके ऋणों को अवश्य चुका दें। इस सम्बन्ध में हम *तैत्तिरीय संहिता* की एक उक्ति को उद्धृत करना चाहते हैं जो है "यज्ञेन देवेभ्यः।"[21] अर्थात् देवऋण को यज्ञ करके चुकाया जा सकता है। और यह तो हम जानते ही है कि वैदिक संस्कृति एक यज्ञप्रधान संस्कृति है। इसमें यज्ञ का अत्यधिक महत्त्व है। हम आगे 'पंचमहायज्ञ' की कुछ विस्तृत चर्चा करेंगे जिससे यह पता लग जा सकेगा कि वैदिक आर्यों के जीवन में यज्ञ का कितना अधिक महत्त्व था। पर तब यह प्रश्न सहज ही उठ जाता है कि क्या यज्ञ करना नैतिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण ही होता है। इस प्रश्न को हम पंचमहायज्ञ की व्याख्या करने के बाद विवेचित करेंगे।

23.2.4 पंचमहायज्ञ

त्रिऋण से उऋण होने की प्रक्रिया का विस्तारित रूप ही मानो पंचमहायज्ञ की प्रक्रिया है। *शतपथ ब्राह्मण* (11-5-6-1) के अनुसार "केवल पाँच महायज्ञ हैं, वे महान सच हैं और वे हैं भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, एवं ब्रह्मयज्ञ"। ऐसे ही कथन अन्य अनेक प्राचीन धर्मग्रंथों में पाये जाते हैं। *तैत्तिरीय संहिता* (6-3-10-5) तथा *शतपथ ब्राह्मण* (1-7-2-1-5 तथा 11-5-6-1) का हवाला देते हुए तारापद चौधरी कहते हैं—"सामाजिक रूप में मनुष्य ऋषियों, देवताओं, पितरों, मनुष्यों तथा पशुओं का ऋणी होकर जन्म लेता है, ये ऋण क्रमशः वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, पुत्रोत्पत्ति, अतिथि-सत्कार तथा आहारप्रदान करके चुकाये जा सकते हैं।"[22] पाँच महायज्ञों में उपर्युक्त तीन ऋणों को चुकाने सम्बन्धी कार्यों के अलावे दो और कार्य जोड़ दिये गये हैं। वे दो कार्य हैं मनुष्य यज्ञ तथा पशुयज्ञ। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पशुयज्ञ के बदले भूतयज्ञ का उल्लेख या फिर ऋषिऋण से उऋण होने सम्बन्धी यज्ञ के लिए ब्रह्मयज्ञ का उल्लेख भी किया गया है। *आश्वलायन गृह्यसूत्र* (3-1-1-4) में कहा गया है—"अथातःपञ्चयज्ञाः। देवयज्ञो भूतयज्ञः पितृयज्ञो ब्रह्मयज्ञो मनुष्ययज्ञ इति"। ये पाँच महायज्ञ श्रौत कर्म नहीं होकर गार्हस्थ्य कर्म हैं। श्रौत कर्म दुःसाध्य होते हैं और वे पुरोहितों के द्वारा ही कराये जाते हैं। ये कर्म स्वर्गप्राप्ति जैसी कामनाओं की पूर्ति के लिए किए जाते हैं। पर पंचमहायज्ञ विशेषतः कर्तव्यपालन तथा कृतज्ञताज्ञापन के लिए किये जाते हैं। काणे कहते हैं—"पंचमहायज्ञों के क्रियान्वयन का मुख्य उद्देश्य है विधाता, प्राचीन ऋषियों, पितरों, जीवों एवं सम्पूर्ण ब्रह्मांड के प्रति (जिसमें असंख्यजीव रहते हैं) अपने कर्तव्यों का पालन करना। किंतु श्रौत यज्ञों में प्रमुख प्रेरणा रहती है स्वर्ग, संपत्ति, पुत्र, आदि की प्राप्ति।"[23]

इस तरह हम देखते हैं कि पंचमहायज्ञ के द्वारा ऋषियों, पितरों तथा देवताओं के अलावे मनुष्यों एवं पशुओं के प्रति भी कृतज्ञताज्ञापन एवं सम्मानप्रदर्शन किये जाते हैं। पर तब यहाँ प्रश्न उठता है कि हम मनुष्यों एवं पशुओं के प्रति भी कृतज्ञ क्यों होवें। इस प्रश्न का उत्तर तो बिलकुल स्पष्ट है। कोई मनुष्य केवल अपने पर निर्भर रह कर नहीं रह सकता। उसे एक समाज की नितांत आवश्यकता होती है। उसे अपने अस्तित्व, विकास, समृद्धि, कष्टनिवारण, आदि के लिए अन्य मनुष्यों से मदद लेनी ही पड़ती है। अतः प्रत्येक व्यक्ति अन्य मनुष्यों का भी ऋणी हो ही जाता है। और इस ऋण को चुकाना भी जरूरी ही हो जाता है। फिर प्रत्येक मनुष्य को पशुओं तथा अन्य जीवों पर भी निर्भर रहना ही पड़ता है। इस तरह वह उनका भी ऋणी हो ही जाता है। मानव जीवन में दूध का कितना अधिक महत्त्व है यह सभी जानते ही हैं। यह दूध हमें प्रचुर मात्रा में पशुओं से ही मिलता है। फिर हमें कृषि, परिवहन, आदि अनेक कार्यों में पशुओं से मदद लेनी ही पड़ती है। अतः उनका ऋण चुकाना भी जरूरी हीं होता है।